

February 2022

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

फ़रवरी २०२२



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन फ़रवरी २०२२

विषय-सूची

‘पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति’

अतिमानस तथा दिव्य जीवन	श्रीअरविन्द ३
अपने पुत्र आन्द्रे के नाम माताजी के पत्र	‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड १६ ७
भागवत प्रेम तथा भक्ति	श्रीअरविन्द १३
मैं अपने मिशन के बारे में कब और कैसे सचेतन हुई	‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड १३ १४
श्रीमाँ की कृपा	श्रीअरविन्द १५
प्रतियोगिताओं के लिए सन्देश	‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड १२ १६
कठिनाइयाँ तथा पूर्णयोग	श्रीअरविन्द २०
भावात्मक तथा अभावात्मक पक्ष	‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ८ २२
श्रीअरविन्द के उत्तर (८३)	२३

‘पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति’

अपने अन्तिम गद्य-लेखनों में श्रीअरविन्द ने *Bulletin of Physical Education*—शारीरिक शिक्षण की पत्रिका—(जिसका बाद में नाम बदल कर *Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education*—श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षाकेन्द्र-पत्रिका—कर दिया गया था) के लिए आठ लेख लिखे थे। यह त्रैमासिक पत्रिका फ़रवरी १९४९ में शुरू हुई थी। ये लेख १९४९ तथा १९५० के अंकों में प्रकाशित हुए थे। १९५० में श्रीअरविन्द के शरीर-त्याग के साथ यह कड़ी टूट गयी। बाद में १९५२ में *पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति* के नाम से यह पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुई।

अतिमानस तथा दिव्य जीवन

यह ध्यान देने वाली बात है कि यह ज़रूरी नहीं कि मन का कोई लोक या स्तर अज्ञान का राज्य हो जहाँ मिथ्यात्व, भूल या अविद्या का होना निश्चित हो; हो सकता है कि वह केवल ज्ञान की इच्छापूर्वक आत्म-सीमितता हो। वह ऐसा जगत् हो सकता है जहाँ मन द्वारा निर्धारित सभी सम्भावनाएँ समय के साथ-साथ अपने-आपको अभिव्यक्त कर सकें और अपनी क्रिया का सच्चा रूप और क्षेत्र पा सकें, अपना स्वरूप पा लें, आत्म-विकास कर सकें, एक तरह की आत्मोपलब्धि, आत्म-अन्वेषण प्राप्त कर लें। जब हम उतरती हुई चैत्य अनुभूति का अनुसरण करते हैं तो यही पाते हैं, वह उतर कर नीचे जड़-भौतिक तथा भौतिक विश्व तक में जा सकती है। लेकिन यहाँ हम जो देखते हैं वह उन क्षेत्रों या जगत्‌ओं का अवतरण नहीं है जिनमें मन या प्राण अपने सत्य का या अपनी आत्मा यानी, उनकी सच्ची और वास्तविक सत्ता का कोई अंश रख सकें; इस धरती पर तो हम मौलिक निश्चेतना देखते हैं और मन, प्राण तथा जीवन का वह संघर्ष पाते हैं कि वे अपनी भौतिक निश्चेतना और उसके परिणाम-स्वरूप अज्ञान से निकलने का कितना प्रयास करते हैं ताकि अपनी सर्वसक्षमता तथा उच्चतम अस्तित्व के प्रति विकसित हो सकें। अगर मन इसे पाने में सफल हो सके तो इसका कोई कारण नहीं कि वह अपना सच्चा चरित्र क्यों न पा ले और एक बार फिर ‘प्रकाश’ की क्रियावली में तथा एक सच्चे और पूर्ण ज्ञान को पाने में क्यों न समर्थ हो जाये। अपने शीर्ष-स्थान पर मन अपनी सीमाओं को लौंघ कर अतिमानसिक सत्य में निकल सकता और अतिमानसिक सत्य का एक हिस्सा बन सकता या उसकी क्रिया में भाग ले सकता है, इतना न भी हो, लेकिन वह उस ज्ञान के साथ सामञ्जस्य बिठाने में कुछ तो हाथ बँटा ही सकता है : निम्न अवस्था में, अतिमानस के नीचे वह मानसिक विज्ञान हो सकता है, एक आध्यात्मिक या अतिमानसिकभावापन्न बोध, भावना, क्रिया-कलाप या अनुभव हो सकता है जो अज्ञान नहीं बल्कि ज्ञान के द्वारा कार्य कर सकेगा।

इससे भी नीचे स्तर पर वह एक ऐसा उज्ज्वल रास्ता हो सकता है जो प्रकाश से प्रकाश की ओर, सत्य से सत्य की ओर ले जाये; फिर वह अर्ध-सत्य या अर्ध-अज्ञान की भूल-भुलैया में गोल-गोल चक्कर नहीं काटेगा। यह ऐसे जगत् में सम्भव नहीं हो पायेगा जहाँ अरूपान्तरित मन या मानव मन अपनी बाधक असमर्थताओं—जैसा कि वह अब है—क्रमविकास की उच्चतम उपलब्धि में भी नेता बना रहे, लेकिन अगर अतिमानस पथ-प्रदर्शक तथा शासक शक्ति हो तो वह नेता बना रह सकता है, और मानव जगत् तथा मानवता के मन का स्पर्श कर वह अनिवार्य रूप से मनुष्य में उतर आये।

यह कहाँ तक हो पायेगा? क्या पूरी मानवता अतिमानस का स्पर्श पा लेगी या उसका बस वह भाग जो बदलने के लिए राज़ी होगा, वही बदल पायेगा? यह तो इस पर निर्भर होगा कि विश्व के क्रम में क्या सम्भव है... अगर पुराने क्रमविकासात्मक सिद्धान्त और व्यवस्था को बनाये रखा जाये तो बस जाति का एक हिस्सा आगे बढ़ पायेगा, बाक़ी मानव की पुरानी अवस्था, स्तर तथा क्रिया-कलाप बढ़ते हुए क्रम में बने रहेंगे, यानी, क्रमशः, बहुत धीमे-धीमे आगे बढ़ेंगे। लेकिन ऐसा होने पर भी दो स्तरों के बीच कोई पथ या पुल तो होना ही चाहिये जिससे क्रमविकास एक से दूसरे में अतिक्रमण कर सके; तब मन अतिमानसिक सत्य से सम्पर्क साधने में और अतिमानसिक सत्य के द्वारा परिवर्तित होने में समर्थ हो पायेगा और अन्तरात्मा को ऊपर उठाने का साधन बन जायेगा; लेकिन मन की ऐसी स्थिति होनी चाहिये कि वह अतिमानस के 'प्रकाश' को प्राप्त करने और उसमें वर्धित होने में समर्थ हो, भले वह उस तक पहुँच न पाये; वैसे यह चीज़ तो अब भी कम मात्रा में होती ही है, मनुष्य की मुक्ति और उसे ऊपर उठाने के लिए महानतर सत्य उसके अज्ञान में कुछ खलबली मचाता ही है और अपने प्रकाश की कुछ किरणें उसकी अन्तरात्मा में भेजता ही रहता है। अभी तक अतिमानस बस परदे के पीछे ही है, और भले वह यदा-कदा अपनी हलकी-सी झाँकी दे दे, लेकिन समस्त सृष्टि का कारण वही है, सत्य तथा ज्ञान के विकास की शक्ति वही है और वही अन्तरात्मा को गुप्त 'वास्तविकता' के प्रति चढ़ाता रहता है। लेकिन जिस जगत् में अतिमानस ने अपने-आपको दर्शा दिया है, वहाँ वह पृथक् होकर नहीं रह रहा है, वह वहाँ अवश्य ही न केवल अतिमानव की रचना करेगा बल्कि मानव को रूपान्तरित कर उसे ऊपर उठा देगा। मानसिक सिद्धान्त का पूर्ण बदलाव—जैसा कि सुझाव दिया गया है—उसे असम्भव कह कर नकारा नहीं जा सकता।

मन—जैसा कि हम उसे जानते हैं, चेतना की एक शक्ति है, वह अतिमानस से अलग है, उससे जुड़ा हुआ नहीं है, न ही वह शक्ति अतिमानस के प्रदीप्त उत्स से निकली है, मन की अपनी विशेषताएँ होती हैं, लेकिन यह भी सच है कि मन में अतिमान के कुछ लक्षण होते ही हैं, लेकिन होते हैं काफ़ी छिपे हुए। मुख्य अन्तर यह है कि मन के अन्दर समस्त ज्ञान को धरने का सामर्थ्य नहीं है और केवल तभी जब वह अपना अतिक्रमण करना आरम्भ करता है कि वह प्रत्यक्ष ज्ञान तक पहुँचने की क्षमता रखता है; वह सत्य की किरणें पाता है, लेकिन सत्य में जीता नहीं है, वह मानों काँच के माध्यम से उस ज्ञान को देखता है और वह दर्शन भी

उसकी बुद्धि के यन्त्रों द्वारा रँग दिया जाता है, वह सीधा सूरज पर टकटकी नहीं बाँध सकता। अभी मन के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह सत्य के उस सूर्य के केन्द्र में जा सके या कहीं भी उसकी परिधि में रह कर अचूक या निरपेक्ष ज्ञान पा ले। केवल तभी जब वह अतिमानस से खिंचा चला उसके कुछ निकट पहुँच सके कि वह समस्त चकाचौंध के साथ 'सत्य' का कुछ दर्शन पा सकता है, लेकिन जब तक मन मानव से ऊपर नहीं उठता वह अपने शीर्षस्थ पर भी अतिमानस से कोसों दूर होता है; वह बस किसी शुद्ध अन्तर्दर्शन का या प्रत्यक्ष दर्शन का कुछ छोर पा सकता है और उसी के चक्कर काटता रह सकता है, और अपना अतिक्रमण करके वह उस सर्वव्यापी की एक झलक-भर पा सकता है...

बहरहाल, यह बात ध्यान देने-योग्य है कि इस जड़-भौतिक की अन्धी, आच्छादित चेतना में, निश्चेतना के क्षेत्र में, अचूक शक्ति के परिश्रम के लक्षण मिलते हैं, एक गुप्त चेतना तथा उसका प्रोत्साहन दिखायी देता है, मानों स्वयं निश्चेतना किसी ऐसी 'शक्ति' के द्वारा गुप्त रूप से प्रेरित हो रही हो जिसके अन्दर प्रत्यक्ष तथा निरपेक्ष ज्ञान हो, उस शक्ति के सर्जन हमारी मानव चेतना के पल्ले कभी नहीं पड़ते, या ऐसा लगता है कि जीवनी-शक्ति या यह कहें कि जड़-भौतिक में स्थित ऊर्जा के अपने अन्दर एक ऐसा ज्ञान होता है कि एक बार वह उभर आये तो वह सत्ता पर सुचारु रूप से कार्य कर सकता है। तब मनुष्य उस जड़-भौतिक ऊर्जा को लेकर, उसे अपने जीवन का सञ्चालन करने दे सकता है। इस जड़-भौतिक ऊर्जा के लिए कहा जा सकता है कि यह आत्म-सर्जक है, अपने अन्वेषण और अपनी स्वैर कल्पना में प्रचुर है, लेकिन फिर भी भूल करने, विपथगमन तथा असफलता में भी अधिक समर्थ है, यह ऐसा है मानों महानतर चेतना के अन्दर भूल करने की महानतर सामर्थ्य हो। लेकिन जैसे-जैसे चेतना अपने रूपों तथा जीवन के क्रिया-कलापों में विकसित होती है, और तब जब मन उसमें प्रवेश कर जाता है तब विक्षोभ भी बढ़ जाते हैं, मानों चेतना का विकास न केवल समृद्धतर सम्भावनाएँ लाता है बल्कि ठोकरों, भूलों, दोषों तथा असफलताओं की भी राशि खड़ी कर देता है। इससे हम यह अटकल लगा सकते हैं कि निश्चेतन प्रकृति में ऊर्जा का एक कार्यरत सत्य होता है जो अचूक रूप से अपने विधान का अनुसरण करता है, वह ऐसी ऊर्जा होती है जो आँख पर पट्टी बाँध कर भी बिना ठोकर खाये आगे बढ़ सकती है, क्योंकि सत्य का यान्त्रिक विधान उसके अन्दर होता है, और जब कोई बाहरी हस्तक्षेप या दखलंदाजी नहीं होती तो प्रकृति डॉवाडोल हुए बिना, भूलें किये बिना, अपने कार्य में सच्चाई से लगी रहती है। वस्तुतः अस्तित्व की सभी यान्त्रिक प्रक्रियाओं में सामान्यतः इस नियम का पालन किया जाता है, यहाँ तक कि स्वयं शरीर के अन्दर भी अपना एक अनभिव्यक्त ज्ञान होता है, उसके कार्यों में एक सहज चेतना होती है, हालाँकि होती है सीमित ही, और जब प्राण की कामनाएँ और मन की भ्रान्तियाँ हस्तक्षेप नहीं करतीं तब शरीर कुछ यथार्थता तथा निश्चिति के साथ सहज रूप से कार्य कर सकता है। लेकिन एकमात्र अतिमानस में ही सम्पूर्ण सत्य-चेतना होती है और अगर वह नीचे उतर कर हस्तक्षेप करे तो मन, प्राण तथा शरीर भी अपने अन्दर सत्य की सम्पूर्णता

को धारण कर सकते हैं, अर्थात्, पूर्णता की सम्पूर्ण सम्भावना उनके अन्दर उतर सकती है। निस्सन्देह, यह सब पलक झपकते नहीं हो सकता, लेकिन एक क्रमविकासात्मक प्रगति के द्वारा यह कार्य प्रारम्भ होकर अपनी सम्पूर्णता तक क्रमशः वर्धनशील तेज़ी के साथ बढ़ सकता है। सम्भव है कि सभी मनुष्य उस पूर्णता तक नहीं पहुँच पायें, लेकिन फिर भी मानव मन 'प्रकाश' के तले खड़ा हो सकता है और एक नयी मानवता नये विकास की ओर अग्रसर हो सकती है।

हमने यह सम्भावना देखी है। अगर इसकी सिद्धि निर्दिष्ट है, अगर मनुष्य के ऊपर हमेशा अज्ञान के अधीन रहने का दुर्भाग्य नहीं मँडरा रहा है, तो हमने मानव मन की जिन अक्षमताओं का उल्लेख किया है, वे ऐसी नहीं हैं कि मनुष्य उनसे चिरकाल तक बँधा ही रहे, उनके शिकंजे से निकल ही न पाये। वह नया 'प्रकाश' उच्चतर साधनों को विकसित कर सकता, अज्ञान की अन्तिम सीमाओं को पार करके उच्चतर ज्ञान में प्रवेश कर सकता और इतना शक्तिशाली बन सकता है कि पाशविक प्रकृति उसे नीचे खींच कर रख ही न सके। एक मुक्त मन होगा जो अज्ञान से निकल कर प्रकाश में प्रवेश कर लेगा और इस बात से अभिज्ञ हो जायेगा कि वह अतिमानस से जुड़ेगा, स्वाभाविक रूप से वह अतिमानस का प्रतिनिधि होगा और सत्ता के निम्नतर स्तरों में अतिमानसिक प्रभाव को लाने में समर्थ होगा, प्रकाश का स्रष्टा, गहराइयों का अन्वेषक, अन्धकार का प्रदीपक वह अतिचेतना की गुप्त किरणों के द्वारा निश्चेतना में भी प्रवेश कर लेगा। एक नयी मानसिक सत्ता होगी जो न केवल अतिमानस की दीप्ति से प्रकाशित रहेगी बल्कि सचेतन रूप से उसकी ओर चढ़ने में भी समर्थ होगी, वह प्राण और शरीर को अतिमानस के प्रकाश, शक्ति तथा आनन्द को प्रतिष्ठित करने और उनके कुछ अंश को प्राप्त करने का भी प्रशिक्षण देगी, और साथ ही आत्म-अन्वेषण, आत्म-सिद्धि, आत्म-ठहराव के लिए गुप्त दिव्यता प्रदान करेगी ताकि वे दिव्य चेतना की ओर आरोहण कर सकें, भागवत प्रकाश तथा शक्ति को प्राप्त कर उसके अवतरण को सह सकें और स्वयं को दिव्य जीवन का योग्य पात्र बना सकें।

अपने पुत्र आन्द्रे के नाम माताजी के पत्र

हमारा परिवार अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। अब हम लगभग ३० हैं (इनमें उनकी गिनती नहीं है जो सारे भारत में फैले हुए हैं) और इन सबका दायित्व मेरे ऊपर है। मैं इस संगठन की मुखिया हूँ—भौतिक और आध्यात्मिक दोनों तरह से—और तुम आसानी से कल्पना कर सकते हो कि इसका क्या मतलब है। हमारे पाँच मकान हैं जिनमें से एक हमारा अपना है और बाक़ी चार हमारे हो जायेंगे। दुनिया-भर से नये प्रवेशार्थी आ रहे हैं। इस विस्तार के साथ नये-नये काम निकल रहे हैं, नयी ज़रूरतें उठ रही हैं जिनके लिए नयी प्रतिभाओं की ज़रूरत है।
१६ जनवरी १९२७

मेरा खयाल है कि मैंने तुम्हें अपने पाँच मकानों के बारे में बतलाया था। उनमें से चार मकान एक ही समचतुष्कोण खण्ड में जुड़े हुए हैं जिसके चारों ओर सड़कें हैं, कई इमारतें, आँगन और बगीचे हैं। हमने अभी हाल में इनमें से एक मकान खरीद लिया है, उसकी मरम्मत करवा ली है और सुविधाजनक बना लिया है। श्रीअरविन्द और मैं अपने शिष्यों के साथ उसमें रहने लग गये हैं।

हमने इन मकानों को आपस में जोड़ दिया है, कुछ दीवारों और उपगृहों को तोड़ कर दरवाज़े बना दिये हैं ताकि मैं बाहर सड़क पर गये बिना अपने छोटे-से राज्य में आज़ादी से घूम सकूँ—यह अच्छा हो गया है। लेकिन अब मैं पहले की अपेक्षा कहीं अधिक व्यस्त रहती हूँ और मैं कह सकती हूँ कि इस समय मैं तुम्हें जल्दी में पत्र लिख रही हूँ।

१६ फ़रवरी १९२७

यह सच है कि एक लम्बे अरसे से, जिसे सोना कहते हैं उस तरह मैं नहीं सोयी हूँ।^१ यानी मैं कभी निश्चेतना में नहीं जा गिरी जो सामान्य नींद का चिह्न है। लेकिन मैं अपने शरीर को आवश्यक आराम जरूर देती हूँ अर्थात्, दो-तीन घण्टों के लिए शरीर की एकदम निश्चल अवस्था में लेटती हूँ जिसमें सारी सत्ता—मानसिक, चैत्य, प्राणिक और भौतिक—पूर्ण विश्राम की अवस्था में चली जाती है जो पूर्ण शान्ति, पूर्ण निश्चल-नीरवता और समग्र सुस्थिरता होती है। चेतना पूरी तरह जाग्रत् रहती है या मैं सत्ता की किसी एक या दूसरी स्थिति या अनेक स्थितियों की आन्तरिक क्रियाओं में लगी रहती हूँ। यह क्रिया गुह्य-कार्य होती है और यह कहने की ज़रूरत नहीं कि वह पूर्णतया सचेतन होती है। अतः मैं पूरी सच्चाई के साथ कह सकती हूँ कि मैं पूरे चौबीस घण्टों में कभी चेतना नहीं खोती और ये एक अविच्छिन्न शृंखला बन जाते हैं और अब मैं कभी सामान्य नींद का अनुभव नहीं करती, साथ ही अपने शरीर को उतना

^१ किसी अख़बार में छपा था कि माताजी महीनों तक सोयी नहीं हैं, उसके बारे में।

आराम भी देती हूँ जितने की उसको ज़रूरत हो।

३ जुलाई १९२७

इस पत्र के साथ मैं तुम्हें आश्रम के कुछ चित्र भेज रही हूँ जिनमें तुम्हें ज़रूर मज़ा आयेगा, क्योंकि इनसे तुम्हें यह अन्दाज़ लग सकेगा, चाहे जितना अधूरा और अयथार्थ क्यों न हो, कि मैं किस वातावरण में रह रही हूँ। बहरहाल, वे बहुत ही सीमित छाप दे सकेंगे। आजकल आश्रम में सत्रह मकान हैं जिनमें पचासी या नब्बे व्यक्ति रहते हैं, लोगों के आते-जाते रहने से संख्या बदलती रहती है।

मैं तुम्हें चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ वार्तालाप भी भेज रही हूँ। मैं आशा करती हूँ कि तुम्हें किस्तों में भेजे पहले तेरह वार्तालाप मिल चुके होंगे। मैंने छपने के साथ-ही-साथ तुम्हें भिजवाये थे।^१
२५ अगस्त १९२९

मैं वार्तालाप के बारे में तुम्हारी राय का जवाब देने की कोशिश नहीं करूँगी, यद्यपि मुझे लगता है कि तुम कई बातें पूरी तरह पकड़ नहीं पाये हो। लेकिन मेरा खयाल है कि बाद में, समय मिलने पर जब तुम इन्हें पढ़ोगे तो जो भाग पहली नज़र में तुमसे बच निकले हैं वे भी समझ में आ जायेंगे। और फिर ये वार्तालाप अपने विषय पर पूरे-पूरे विवेचन का या उन पर भली-भाँति प्रकाश डालने का दावा नहीं करते। बल्कि ये ऐसे संकेत हैं जिनका उद्देश्य उपदेशात्मक नहीं, व्यावहारिक है; ये एक प्रकार से मार्ग पर चलने वालों को उत्तेजित करने के लिए अंकुश या प्रेरक हैं। यह ठीक है कि मेरे उत्तरों में प्रश्न के कई पहलुओं की उपेक्षा हुई है जिन्हें ज़्यादा रुचिकर ढंग से जाँचा जा सकता था—यह फिर कभी।

२१ अक्टूबर १९२९

आश्रम अधिकाधिक मज़ेदार संस्था बनता जा रहा है। हमने अब अपना इक्कीसवाँ मकान ले लिया है। आश्रम के वैतनिक कर्मचारियों की संख्या (मज़दूरों और नौकरों की) साठ-पैंसठ तक हो गयी है और आश्रम के सदस्यों की संख्या (जो श्रीअरविन्द के शिष्य हैं और पॉण्डिचेरी में रहते हैं) पचासी और सौ के बीच बदलती रहती है। यहाँ पाँच मोटरों, बारह बाइसिकलें, चार कपड़े सीने की मशीनें, एक दर्जन टाइपराइटर, कई गराज, मोटरों की मरम्मत करने वाला एक कारखाना, विद्युत्-सेवा, भवन-निर्माण-विभाग, सिलाई के विभाग (यूरोपीय और भारतीय दर्ज़ी, कशीदाकारी आदि), पुस्तकालय, वाचनालय जिनमें हज़ारों पुस्तकें हैं, फ़ोटो-विभाग, सर्व-सामान्य भण्डार—जिनमें बहुत प्रकार की चीज़ें हैं, जिनमें से अधिकतर फ़्रांस से आयी हुई हैं, फूलों, फलों और तरकारियों के लिए बड़े-बड़े बगीचे, गोशाला, बेकरी आदि-आदि हैं। तुम देख सकते हो कि यह कोई छोटी बात नहीं है और चूँकि मैं सबकी देखभाल करती हूँ इसलिए मैं सचमुच

^१ ये १५ वार्तालाप 'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३ में छपे हैं।

कह सकती हूँ कि मैं व्यस्त हूँ।

२३ अगस्त १९३०

मुझे 'ग्रां रिव्यू'^१ भी मिल गयी है और मैंने यह लेख पढ़ लिया है जिसके लिए तुमने लिखा था। मुझे तो यह नीरस-सा लगा, लेकिन बहुत खराब नहीं है। लेकिन उसमें जिस मुखर्जी का ज़िक्र है वह बहुत वर्षों से भारत से बाहर (शायद अमरीका में) रहा होगा और पूरी तरह पाश्चात्य बन गया होगा अन्यथा वह गाँधी और रवीन्द्रनाथ को भारत के सबसे ज़्यादा लोकप्रिय व्यक्ति न बताता। इसके विपरीत, वे हिन्दुस्तान के बाहर ज़्यादा लोकप्रिय हैं और ऐसा लगता है कि विदेशियों के लिए यही दो भारतीय प्रतिभा के प्रतिनिधि हैं। यह सत्य से बहुत दूर है। अगर वे पश्चिम में इतने अधिक लोकप्रिय हैं तो शायद इसलिए कि उनकी महिमा पाश्चात्य मन की समझ से परे नहीं है।

भारत में इन दो की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतिभावान् लोग हैं और वे विभिन्न क्षेत्रों में हैं, जैसे वैज्ञानिक, साहित्यिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में। यह ठीक है कि शान्तिनिकेतन से बड़े सुसंस्कृत युवक निकलते हैं लेकिन उपलब्धि के लिए शक्ति या ऊर्जा के बिना। रही बात गाँधी के युवकों की, तो उनमें काम करने के लिए काफ़ी अधिक शक्ति और ऊर्जा हो सकती है पर वे कुछ थोड़े-से संकीर्ण भावों और सीमित मन की चारदीवारी में बन्द होते हैं।

मैं फिर से कहती हूँ, भारत में अधिक अच्छा, कहीं अधिक अच्छा है, परन्तु यह भारत अन्तर्राष्ट्रीय प्रशंसा की परवाह नहीं करता।

४ अगस्त १९३१

तुमने टिप्पणी की है कि मानवजाति को चलाते रहने के लिये बच्चे पैदा करना एकमात्र उपाय है, इसके बारे में दो शब्द : मैंने कभी इससे इन्कार नहीं किया, लेकिन मैं साथ ही यह भी कह देना चाहती हूँ कि इस बारे में डरने की कोई बात नहीं है। अगर 'प्रकृति' की योजना है कि मानवजाति को बनाये रखा जाये तो वह इतने लोगों को पा लेगी जितनों की उसकी योजना को पूरा करने के लिए ज़रूरत है। धरती को निश्चय ही कभी आदमियों की कमी न होगी।

२८ सितम्बर १९३१

जिन चीज़ों की प्रतीक्षा है... केवल वे ही वस्तुओं की उस दुःखद स्थिति का उपचार कर सकती हैं जिनका तुमने अपने ९ अक्टूबर के पत्र में ज़िक्र किया है। और निश्चय ही यह स्थिति केन्द्रीय यूरोप के छोटे-मोटे राज्यों तक सीमित नहीं है। तुमने जैसा वर्णन किया है, लगभग वैसी ही स्थिति सारे संसार की है : अव्यवस्था, अस्त-व्यस्तता, अपव्यय और दुर्गति।

यह कहते हुए रोने-धोने का कोई लाभ नहीं कि तुम किस ओर बढ़ रहे हो! अन्तिम

^१ एक फ्रेंच मासिक साहित्यिक पत्रिका जो १९३९ तक फ्रांस में छपी।

विध्वंस, व्यापक दिवालियापन काफ़ी प्रत्यक्ष दीखते हैं... यदि... और पृथ्वी के इतिहास में ऐसे “यदि” हमेशा आते रहे हैं और हमेशा जब कभी अस्त-व्यस्तता और विनाश अपनी चरम सीमा पर मालूम होते हैं तो कुछ होता है और एक नया सन्तुलन स्थापित हो जाता है जो और कुछ शताब्दियों तक हासोन्मुख सभ्यताओं और प्रलाप में पड़े मानव समाजों का जीवन चलाता रहता है।

यह सोचने न लगना कि मैं निराशावादी हूँ। निश्चय ही चीज़ें जैसी हैं वैसी मुझे पसन्द नहीं हैं। लेकिन फिर भी मैं यह नहीं मानती कि वे, पहले कई बार जितनी ख़राब हो चुकी हैं, उससे ज़्यादा ख़राब हैं। लेकिन मैं चाहती हूँ कि वे भिन्न हों। मैं चाहती हूँ कि वे अधिक सामञ्जस्यपूर्ण और अधिक सत्य हों। कैसा बीभत्स है मिथ्यात्व का सारी धरती पर प्रसार और अपने अन्धकार के विधान द्वारा सारे जगत् पर शासन! मुझे लगता है कि उसका शासन काफ़ी लम्बे समय तक चल चुका। अब हमें इस स्वामी की सेवा करने से इन्कार कर देना चाहिये। यही महान् और एकमात्र उपचार है।

३ नवम्बर १९३१

लम्बे समय के बाद तुम्हारा ५ जनवरी का पत्र पाकर मुझे ख़ुशी हुई। विशेष रूप से इसलिए क्योंकि तुम सोचते हो कि पॉण्डिचेरी एक आदर्श विश्राम-स्थल है। सचमुच, मेरा ख़याल है कि यह बेचैन लोगों के लिए उपचार का आदर्श स्थान हो सकता है—यहाँ तुम खोजो तो भी मनोरञ्जन के स्थान नहीं हैं। दूसरी ओर समुद्र सुन्दर है, देहात विस्तृत है और शहर बहुत छोटा। तुम पाँच मिनट मोटर चला कर उससे बाहर हो सकते हो, और इसके केन्द्र में है आश्रम, क्रियाशील और सक्रिय शान्ति का घनीभूत मूर्तरूप; यहाँ तक कि जो लोग बाहर से आते हैं वे ऐसा अनुभव करते हैं मानों वे एक और ही जगत् में आ गये हैं। यह सचमुच एक और ही जगत् है, एक ऐसा जगत् जहाँ भीतरी जीवन बाहरी जीवन पर शासन करता है, एक ऐसा जगत् जहाँ चीज़ें पूरी की जाती हैं, जहाँ काम निजी स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि एक आदर्श को चरितार्थ करने के लिए निःस्वार्थ भाव से किया जाता है। यहाँ हम जो जीवन जीते हैं वह संन्यासी के त्यागमय जीवन से उतना ही दूर है जितना शक्तिहासक आराम से। यहाँ का नियम है सादगी, लेकिन ऐसी सादगी जो विभिन्नता से भरी हुई है—व्यवसायों की, कार्यों की, रुचियों की, प्रवृत्तियों की, स्वभावों की विभिन्नता। हर एक अपने जीवन को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक व्यवस्थित करने के लिए स्वतन्त्र है। अनुशासन इतना कम-से-कम कर दिया गया है जितना ११०-१२० लोगों के रहने के लिए और ऐसी गतिविधियों को रोकने के लिए अनिवार्य है जो हमारे योग के उद्देश्य की उपलब्धि में हानिकर हों।

क्या कहते हो तुम इस बारे में? यह लुभाने वाला नहीं है क्या? क्या तुम्हें कभी यहाँ आने का अवसर मिलेगा? ऐसी सम्भावना होगी? एक बार तुमने मुझे यहाँ आने की आशा-सी दिलायी थी।

मैं तुम्हें अपना “संस्थान” दिखाना चाहूँगी। इसने अभी चार और मकान लिये हैं जिन्हें मैंने क्लानूनी बारीकियों को सरल बनाने के ख़याल से अपने नाम से ख़रीदा है; लेकिन यह कहने की तो ज़रूरत ही नहीं है कि मैं उनकी स्वामिनी नहीं हूँ। मेरा ख़याल है कि मैं पहले ही तुम्हें यह स्थिति समझा चुकी हूँ और तुम्हें फिर से इसकी याद दिलाने के लिए इस अवसर का लाभ उठा रही हूँ। अपनी समस्त चल और अचल सम्पत्ति के साथ आश्रम श्रीअरविन्द का है। उनका धन ही मुझे आश्रम के इतने बड़े खर्चे चलाने-योग्य बनाता है (आजकल हमारा वार्षिक खर्च औसतन एक लाख रुपये है, जो आजकल के मुद्रा-विनिमय के हिसाब से लगभग ६५०,००० फ़्रैंक के बराबर होगा); और अगर बैंक के हिसाब-किताब में, मकानों, मोटरों के क्रय-विक्रय में कभी-कभी मेरा नाम भी आता है तो यह, जैसा कि मैं पहले भी बतला चुकी हूँ, केवल कागज़ों और हस्ताक्षरों की सुविधा के लिए, क्योंकि मैं ही सब “प्रबन्ध” करती हूँ; इसलिए नहीं कि वे सचमुच मेरी हैं। तुम आसानी से समझ जाओगे कि मैं तुमसे यह सब क्यों कह रही हूँ; ऐसा इसलिए कि तुम इसे मन में रखो ताकि अगर...

१० फ़रवरी १९३३

तुम्हारा पिछला पत्र वर्तमान घटनाओं की ओर ध्यान खींचता है और उसमें कुछ चिन्ता झलकती है जो निश्चय ही निराधार नहीं है। अपनी अज्ञानमयी अचेतना में लोग ऐसी शक्तियों को चला देते हैं जिनके बारे में वे अभिज्ञ तक नहीं होते और शीघ्र ही ये शक्तियाँ उनके वश से अधिकाधिक बाहर हो जाती हैं और संकटपूर्ण परिणाम लाती हैं। ऐसा लगता है कि धरती पूरी तरह से राजनीतिक और सामाजिक मिरगी के भयंकर दौर से हिल गयी है जिसके द्वारा विनाश की सबसे अधिक भयंकर शक्तियाँ अपना काम कर रही हैं। यहाँ, इस छोटे से नगण्य कोने में भी हम इस व्यापक रोग से नहीं बच सके हैं। तीन-चार दिन तक ये क्रियाशील शक्तियाँ भद्दी थीं और सचमुच चिन्ता का कारण बनीं रहीं और एक महान् अस्त-व्यस्तता शुरू होने वाली थी। मुझे कहना चाहिये कि उन परिस्थितियों में यहाँ के राज्यपाल (सोलमिएक) ने बहुत कृपा और साथ ही दृढ़ता भी दिखलायी। उसकी सद्भावना की जितनी प्रशंसा की जाये कम है। अन्त में, परिस्थितियों को देखते हुए सारी चीज़ ठीक तरह समाप्त हो गयी। लेकिन अब चौदह हज़ार से अधिक मज़दूर बेकार हैं, सबसे बड़ा कारख़ाना बन्द है, पता नहीं कब तक के लिए, और दूसरा जला दिया गया है। सामान्य बुद्धि का एकदम अभाव इस युग का चिह्न मालूम होता है। लेकिन हम शायद ऐसा इसलिए देखते हैं क्योंकि नज़दीक होने के कारण हम सब कुछ ब्योरे में देख सकते हैं। दूर से देखने पर ब्योरे मिट जाते हैं और केवल मुख्य रेखाएँ दिखलायी देती हैं जो परिस्थितियों को अधिक तार्किक रूप दे देती हैं।

हो सकता है कि पृथ्वी पर जीवन हमेशा अव्यवस्थित रहा है। बाइबल चाहे जो कहे, प्रकाश अभी तक प्रकट नहीं हुआ है। हम आशा करें कि उसके आने में बहुत देर न लगेगी।
२३ अगस्त १९३६

जेनेवा में एक छोटी-सी पुस्तिका छप रही है जिसमें मेरा १९१२ का दिया हुआ एक भाषण है। वह अब पुराना हो गया है पर मैं उनके उत्साह पर ठण्डा पानी नहीं डालना चाहती थी। मैंने उसे शीर्षक दिया था “केन्द्रीय विचार” लेकिन उन्हें यह बहुत ज़्यादा दार्शनिक मालूम हुआ और उन्होंने उसे “सर्वोत्तम आविष्कार”^१ में बदल दिया है। मेरी रुचि के लिए यह ज़्यादा भड़कीला-सा है परन्तु...

२४ अप्रैल १९३७

हाल की कुछ घटनाओं का ज़िक्र करते हुए तुम पूछते हो कि “क्या यह खतरनाक झँसा-पट्टी थी” या हम किसी “विध्वंस से बाल-बाल बच गये हैं।” दोनों को एक साथ मान लेना सत्य के अधिक नज़दीक होगा। यदि तुम सुनने वालों को डराने-धमकाने और उनसे जितना हो सके निकलवा लेने के लिए चीखने-चिल्लाने और धमकियाँ देने को झँसा देना कहो तो हिटलर निश्चय ही झँसा दे रहा है। दाँव-पेच और कूटनीति का उपयोग किया गया लेकिन दूसरी ओर हर मानव इच्छा-शक्ति के पीछे ऐसी शक्तियाँ कार्यरत होती हैं जिनका मूल मानवीय नहीं होता और जो सचेतन रूप से किन्हीं लक्ष्यों की ओर गति करती हैं। इन शक्तियों की लीला बहुत जटिल होती है और सामान्य मानव चेतना से बच निकलती है; लेकिन समझाने और समझने की सुविधा की दृष्टि से उन्हें दो मुख्य विरोधी प्रवृत्तियों में बाँटा जा सकता है। एक वे जो धरती पर भागवत कार्य की परिपूर्ति के लिए कार्य करती हैं और दूसरी वे जो इस परिपूर्ति के विरुद्ध हैं। पहली के हाथ में थोड़े से सचेतन यन्त्र होते हैं। यह सच है कि इस मामले में गुण संख्या की अपेक्षा कहीं अधिक क्षतिपूर्ति कर देता है। भगवद्-विरोधी शक्तियों के पास चुनने के लिए बहुत अधिक संख्या होती है और उन्हें हमेशा ऐसी इच्छा-शक्तियाँ मिल जाती हैं जिन्हें वे अपना गुलाम बना लेती हैं और ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जिन्हें वे आज्ञापरायण परन्तु प्रायः सदा ही निश्चेतन कठपुतलियों में बदल देती हैं। हिटलर इन भगवद्-विरोधी शक्तियों का चुना हुआ यन्त्र है जो हिंसा, उथल-पुथल और युद्ध चाहती हैं, क्योंकि उन्हें मालूम है कि ये चीज़ें भगवान् की शक्तियों के कार्य में बाधा डालती और देर लगाती हैं। इसीलिए यद्यपि कोई मानव सरकार उसे न चाहती थी फिर भी महाविपदा बहुत ही नज़दीक थी। लेकिन चाहे किसी क्रीमत पर क्यों न हो, युद्ध नहीं होना चाहिये और युद्ध को कम-से-कम अभी के लिए टाल दिया गया है।

२२ अक्टूबर १९३८

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६, पृ. ३-११

^१: “पहले की बातें” में प्रकाशित, ‘श्रीमातृवाणी’ खण्ड २, पृ. ३६-४३

भागवत प्रेम तथा भक्ति

इससे मुक्त होने का मार्ग बाहर से हट कर अन्दर की ओर मुड़ना है, मन को अपने बोझ के नीचे दबाने वाले और प्राण और शरीर की क्यारियों में उसे क़ैद करने वाले भौतिक जीवन में बाहरी दिखावे से हट कर उस भागवत सत्य की ओर बढ़ना है जो सत्य आत्मा की मुक्त स्थिति में से होकर अपने-आपको व्यक्त करने की प्रतीक्षा कर रहा है। संसार का प्रेम, यह आवरण, भगवान् के उस प्रेम में अवश्य रूपान्तरित होना चाहिये जो कि एकमात्र सत्य है। जब इस गुप्त और अन्तःस्थित ईश्वर का पता लग जाता और उसका समालिंगन कर लिया जाता है तब हमारी सारी सत्ता और सारा जीवन ऊपर उठ जाता और एक विलक्षण रूपान्तर साधित हो जाता है। जो निम्न प्रकृति अपने बाह्य कर्मों और दृश्यों में निमग्न रहती है उसकी, अज्ञानमयता में फँसे रहने के स्थान पर, वह आँख खुल जायेगी जो सर्वत्र ईश्वर को देखने लगेगी, सर्वत्र आत्मा की एकता और वैश्वभावापन्नता को अनुभव करने लगेगी। संसार का दुःख-दर्द सर्वानन्द के आनन्द में अपने-आपको खो देगा; हमारा दौर्बल्य, प्रमाद और पाप सर्वग्राही और सर्व-रूपान्तरकारी शक्ति में, सनातन की सत्यता और शुचिता में परिवर्तित हो जायेगा। भागवत चैतन्य के साथ अपने अन्तःकरण को एक करना, अपनी सम्पूर्ण भागवत प्रकृति को सर्वत्र स्थित भगवान् के प्रति प्रेमरूप बना देना, अपने सब कर्मों को त्रिभुवननाथ के प्रीत्यर्थ यज्ञ बना देना और अपनी सारी उपासना और अभीप्सा को उनकी भक्ति तथा आत्म-समर्पण बना देना, सम्पूर्ण आत्म-भाव को सम्पूर्ण अभेदभाव के साथ भगवान् की ओर लगा देना—यही एकमात्र रास्ता है जिससे मनुष्य इस सांसारिक जीवन से ऊपर उठ कर भागवत जीवन को प्राप्त कर सकता है। भागवत प्रेम और भक्ति के सम्बन्ध में *गीता* की यही शिक्षा है, इस प्रेम और भक्ति में ज्ञान, कर्म और हृदय की चाह, सभी एक परम एकत्व में एक हो जाते हैं, उनकी सारी विभिन्नताएँ घुल-मिल जाती हैं, सब तन्तु एक पट के ताने-बाने बन जाते हैं, एक महान् एकीकरण हो जाता है, एक विशाल तदात्म-भाव विस्तृत हो जाता है।

मैं अपने मिशन के बारे में कब और कैसे सचेतन हुई

मुझे धरती पर जो मिशन पूरा करना था उसके बारे में मैं कब और कैसे सचेतन हुई और मैं कब और कैसे श्रीअरविन्द से मिली?

तुमने ये दो प्रश्न पूछे थे और मैंने संक्षिप्त उत्तर देने का वचन दिया था।

मिशन के ज्ञान के बारे में यह कहना कठिन है कि वह मुझे कब मिला। यह तो ऐसा है मानों मैं उसे लेकर ही पैदा हुई थी। मन और मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ इस चेतना की सुनिश्चितता और पूर्णता का भी विकास हुआ।

ग्यारह से तेरह की उम्र में बहुत-सी चैत्य और आध्यात्मिक अनुभूतियों ने मुझे न केवल भगवान् का साक्षात्कार कराया बल्कि यह भी बताया कि मनुष्य उनके साथ एक हो सकता है, अपनी चेतना और क्रिया में समग्र रूप से उन्हें पा सकता है और धरती पर उन्हें दिव्य जीवन में अभिव्यक्त किया जा सकता है। मेरे शरीर की निद्रावस्था में कई शिक्षकों ने मुझे यह शिक्षा दी और उसे सम्पन्न करने के व्यवहार्य अनुशीलन भी बताये। इनमें से कुछ के साथ मैं बाद में भौतिक स्तर पर मिली थी।

बाद में, जैसे-जैसे आन्तरिक और बाह्य विकास होता गया, इनमें से एक सत्ता के साथ आध्यात्मिक और चैत्य सम्बन्ध अधिकाधिक स्पष्ट और बारम्बार होते रहे; यद्यपि उस समय मैं भारतीय धर्मों और दर्शन के बारे में बहुत कम जानती थी, फिर भी किसी-न-किसी अज्ञात कारण से मैं उसे कृष्ण कहती थी, और उस समय से मुझे यह भान हो गया था कि मुझे उन्हीं के साथ भागवत कार्य करना है (मुझे पता था कि मैं एक-न-एक दिन पृथ्वी पर उनसे मिलूँगी)।

१९१० में मेरे पति अकेले पॉण्डिचेरी आये जहाँ, बहुत मज़ेदार और अनोखी परिस्थितियों में, श्रीअरविन्द के साथ उनका परिचय हुआ। तभी से हम दोनों भारत आने के लिए बहुत इच्छुक थे—भारत को ही मैंने अपनी सच्ची मातृभूमि माना था। १९१४ में हमें यह आनन्द प्रदान किया गया।

जैसे ही मैंने श्रीअरविन्द को देखा, मैं पहचान गयी कि यह वही सत्ता है जिसे मैं कृष्ण कहा करती थी...। और यह इस बात को समझाने के लिए काफ़ी है कि मुझे यह पूरा विश्वास क्यों है कि मेरा स्थान और मेरा कार्य उनके साथ यहाँ, भारत में, है।

पॉण्डिचेरी, १९२०

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १३, पृ. ३८-३९

श्रीमाँ की कृपा

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश से बच कर चलने के लिए दो ही चीज़ों की आवश्यकता है, दो चीज़ें जो सदा साथ रहती हैं—एक तो भगवती माँ की कृपा, और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी आन्तरिक स्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से पूर्ण हो। तुम्हारी श्रद्धा विशुद्ध, निश्चल और पूर्ण हो। मन और प्राण की अहंकारमयी श्रद्धा—जो महत्त्वाकांक्षा, अभिमान, दम्भ व मानसिक अहंकार से और प्राण की स्वेच्छाचारिता, वैयक्तिक माँग तथा निम्न प्रकृति की तुच्छ सन्तुष्टियों की कामना से कलुषित होती है—एक निम्न और धुँए से ढकी अग्निशिखा है जिसकी लौ ऊपर स्वर्ग की ओर नहीं उठ सकती। यही मानो कि तुम्हारा जीवन तुम्हें भगवान् के कार्य के लिए और भगवान् की अभिव्यक्ति में सहायता देने के लिए ही मिला है। केवल भागवत चेतना की विशुद्धता, शक्ति, ज्योति, विशालता, स्थिरता और आनन्द और उस चेतना का यह आग्रह कि उसके द्वारा तुम्हारे मन, प्राण और शरीर का रूपान्तर हो—इसके सिवा और कुछ न चाहे। कुछ मत माँगो, माँगो केवल दिव्य आध्यात्मिक और अतिमानसिक सत्य, उस सत्य की सिद्धि पृथ्वी पर, तुम्हारे अपने अन्दर और उन सबके अन्दर जो इसके लिए बुलाये और चुने गये हैं। उन परिस्थितियों को माँगो जो इस सत्य की सृष्टि के लिए और इसकी विजय के लिए आवश्यक हैं।

तुम्हारी निष्ठा और समर्पण सच्चे और सम्पूर्ण हों। जब तुम अपने-आपको देते हो तो पूरी तरह दो, बिना किसी माँग के, बिना किसी शर्त के और बिना किसी संकोच के दो, ताकि तुम्हारे अन्दर जो कुछ है वह सब भगवती माँ का हो जाये, और कुछ भी अहं के लिए या अन्य किसी शक्ति को देने के लिए बच न रहे।

तुम्हारी श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण जितने अधिक पूर्ण होंगे, भगवती माँ की कृपा और रक्षा भी तुम्हारे साथ उतनी ही अधिक रहेंगी। और जब भगवती माँ की कृपा और अभय-हस्त तुम पर हैं तो फिर कौन-सी चीज़ है जो तुम्हें स्पर्श कर सके या जिसका तुम्हें भय हो? कृपा का छोटा-सा कण भी तुम्हें सब कठिनाइयों, बाधाओं और संकटों के पार ले जायेगा; क्योंकि यह मार्ग माँ का है, इसलिए किसी भी संकट की परवाह किये बिना, किसी भी शत्रुता से प्रभावित हुए बिना—चाहे वह कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो, चाहे वह इस जगत् की हो या अन्य अदृश्य जगतों की—इसकी पूर्ण उपस्थिति से घिर कर तुम अपने मार्ग पर सुरक्षित होकर आगे बढ़ सकते हो। इसका कृपा-स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। क्योंकि भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है। आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट, अवश्यम्भावी और अनिवार्य है।

प्रतियोगिताओं के लिए सन्देश

ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता १९५९

भौतिक आँखें जिन दृश्यों को देख सकती हैं उनके पीछे एक बहुत अधिक ठोस और स्थायी वास्तविकता है। इस वास्तविकता में मैं आज तुम्हारे साथ हूँ और सारे ऐथलेटिक्स काल में रहूँगी। बल, शक्ति, ज्योति और चेतना निरन्तर तुम्हारे साथ रहेंगी, ताकि हर एक को, उसकी ग्रहणशक्ति के अनुसार, उसके प्रयास में सफलता मिले और सभी सच्चे प्रयास को मिले प्रगति का शीर्ष-मुकुट।

१९ जुलाई १९५९

ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता १९६०

सभी मेरी शक्ति, मेरी सहायता और मेरे आशीर्वाद के साथ, आनन्द और विश्वास के साथ, अपना अच्छे-से-अच्छा करें।

२१ अगस्त १९६०

ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता १९६२

प्रथम आने की महत्त्वाकांक्षा के स्थान पर यथासम्भव अच्छे-से-अच्छा करने का संकल्प करो।

सफलता की कामना के स्थान पर प्रगति के लिए उत्कण्ठा रखो।

ख्याति के लिए उत्सुकता के स्थान पर पूर्णता के लिए अभीप्सा करो।

शारीरिक शिक्षण उच्चतर और अधिक अच्छे जीवन के लिए आवश्यक सभी चीज़ें—चेतना और संयम, अनुशासन और प्रभुत्व आदि—शरीर में उतारने के लिए है।

ये सब बातें मन में रखो, सच्चाई के साथ अभ्यास करो और तुम अच्छे ऐथलीट बन जाओगे; सच्चे मनुष्य होने के रास्ते पर यह पहला क़दम है।

आशीर्वाद।

१५ जुलाई १९६२

ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता १९६३

उन सबसे जो अपने शरीर को 'दिव्य जीवन' के लिए उपयुक्त बनाना चाहते हैं, मैं कहती हूँ, ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता के इस अच्छे अवसर को न खोओ और यह कभी न भूलो कि हम जो कुछ करें उसमें पूर्णता के लिए अभीप्सा करते रहें। क्योंकि पूर्णता की यह चाह ही, सभी कठिनाइयों के बावजूद, हमें 'लक्ष्य' तक ले जायेगी।

आशीर्वाद।

२१ अगस्त १९६३

ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता १९६४

हम एक नयी दुनिया की नींव रखने के लिए यहाँ हैं।

ऐथलेटिक्स में सफल होने के लिए जो गुण और कौशल चाहियें, वे सब ठीक वही हैं जो नयी शक्ति को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने के लिए मनुष्य के शरीर में होने चाहियें।

मैं आशा करती हूँ कि तुम इस ज्ञान और इस भावना के साथ इस ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता में उतरोगे और उसे सफलता से पूरा करोगे।

मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

२४ अगस्त १९६४

प्रतियोगिताएँ १९६६

तुम्हें यह याद दिलाना शायद ज़्यादा अच्छा रहेगा कि हम यहाँ एक विशेष काम के लिए हैं, एक ऐसे काम के लिए जो और कहीं नहीं किया गया है।

हम परम चेतना, वैश्व चेतना के सम्पर्क में आना चाहते हैं, हम उसे अपने अन्दर उतार लाना और अभिव्यक्त करना चाहते हैं। लेकिन उसके लिए हमारी नींव बहुत ठोस होनी चाहिये; हमारी नींव है हमारी भौतिक सत्ता, हमारा शरीर। इसलिए हमें एक ऐसा शरीर बनाना चाहिये जो ठोस, स्वस्थ, सहनशील, कुशल, फुर्तीला और सशक्त, हर चीज़ के लिए तैयार हो। शरीर को तैयार करने के लिए शारीरिक व्यायाम से अच्छा और कोई तरीका नहीं है: खेलकूद, ऐथलेटिक्स, जिम्नास्टिक्स तथा अन्य क्रीड़ाएँ शरीर को विकसित करने और मज़बूत बनाने के लिए सबसे अच्छे उपाय हैं।

इसलिए मैं तुम्हें आज से शुरू होने वाली प्रतियोगिताओं में पूरे दिल से, पूरी ऊर्जा और पूरे संकल्प के साथ भाग लेने का निमन्त्रण देती हूँ।

१ अप्रैल १९६६

प्रतियोगिताएँ १९६७

शारीरिक शिक्षण और खेलकूद के अवसर पर :

मुझे फिर से एक बार कहना चाहिये कि आध्यात्मिक जीवन का अर्थ 'भौतिक द्रव्य' का तिरस्कार नहीं, बल्कि उसे दिव्य बनाना है। हम शरीर को त्यागना नहीं, उसका रूपान्तर करना चाहते हैं। इसके लिए शारीरिक शिक्षण सबसे अधिक सीधा प्रभाव करने वाले साधनों में से एक है।

इसलिए मैं आज से शुरू होने वाले कार्यक्रम में उत्साह और अनुशासन के साथ भाग लेने के लिए निमन्त्रण देती हूँ—अनुशासन, इसलिए क्योंकि वह सुव्यवस्था की पहली अनिवार्य शर्त है; उत्साह, इसलिए क्योंकि वह सफलता की आवश्यक शर्त है।

आशीर्वाद।

१ अप्रैल १९६७

प्रतियोगिताएँ १९६८

शक्ति पाने के लिए पहली शर्त है आज्ञाकारिता।

शक्ति अभिव्यक्त करने से पहले शरीर को आज्ञा मानना सीखना चाहिये, और शारीरिक शिक्षण शरीर के लिए सबसे बढ़िया अनुशासन है।

अतः शारीरिक शिक्षण के लिए उत्सुक और सच्चे होओ और तुम शक्तिशाली शरीर पा लोगे।

मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

१ अप्रैल १९६८

प्रतियोगिताएँ १९६९

इस वर्ष के आरम्भ से एक नयी चेतना, नयी सृष्टि, अतिमानव की तैयारी करने के लिए धरती पर काम में लगी है। इस सृष्टि के सम्भव होने के लिए मानव शरीर को बनाने वाले पदार्थ में एक बहुत बड़ा परिवर्तन ज़रूरी है, उसे चेतना के प्रति अधिक ग्रहणशील और उसकी क्रिया के सम्मुख अधिक नमनीय होना चाहिये।

ये ही वे गुण हैं जिन्हें तुम शारीरिक शिक्षण के द्वारा पा सकते हो।

तो, अगर हम इस तरह के परिणाम को नज़र में रखते हुए ऐसे अनुशासन का पालन करें तो निश्चित ही बहुत अधिक मज़ेदार परिणाम आयेंगे।

सबको प्रगति और उपलब्धि के लिए मेरे आशीर्वाद।

१ अप्रैल १९६९

प्रतियोगिताएँ १९७०

हम भगवान् को अपने विकसित होते हुए शरीर के कौशल की भेंट से बढ़ कर और कौन-सी भेंट दे सकते हैं?

आओ, पूर्णता के लिए किये गये अपने प्रयासों को निवेदित कर दें, इससे शारीरिक शिक्षण हमारे लिए एक नया अर्थ और बहुत अधिक मूल्य पा लेगा।

संसार एक नयी सृष्टि के लिए तैयारी कर रहा है, आओ, हम भौतिक रूपान्तर के मार्ग पर अपने शरीर को अधिक बलवान्, अधिक ग्रहणशील और अधिक नमनीय बना कर शारीरिक प्रशिक्षण के द्वारा सहायता करें।

१ अप्रैल १९७०

प्रतियोगिताएँ १९७१

हम उन “दिव्य मुहूर्तों” में से एक में हैं जब पुरानी नींवें हिल जाती हैं और बड़ी अस्त-व्यस्तता होती है; लेकिन जो आगे छलाँग लगाना चाहते हैं उनके लिए यह एक अद्भुत अवसर है, प्रगति की सम्भावना अपवादिक रूप से बहुत अधिक है।

क्या तुम उनमें से न होगे जो इसका लाभ उठायेंगे?

तुम्हारे शरीर इस महान् परिवर्तन के लिए शारीरिक प्रशिक्षण द्वारा तैयार हों!

सबको मेरे आशीर्वाद।

१ अप्रैल १९७१

प्रतियोगिताएँ १९७२

आओ, इस वर्ष हम अपने शरीर के समस्त क्रिया-कलाप को श्रीअरविन्द के प्रति अर्पित कर दें।

१ अप्रैल १९७२

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १२, पृ. २९५-३०२

कठिनाइयाँ तथा पूर्णयोग

यह योग सचमुच कठिन है, परन्तु क्या कोई भी योगमार्ग वास्तव में सरल है? तुम विश्वातीत निरपेक्ष ब्रह्म में लयरूप मुक्तावस्था के आकर्षण की बात कहते हो, किन्तु ऐसे व्यक्ति कितने हैं जो निर्वाण के मार्ग पर चल कर इस जन्म में या सुदीर्घ, कठोर, अविश्रान्त और कठिन प्रयास के बिना उसे प्राप्त कर लेते हैं? ऐसा कौन-सा मार्ग है जिसे प्रतिज्ञात वैकुण्ठधाम तक पहुँचने के लिए शुष्क मरुभूमि में से नहीं गुज़रना पड़ता? भक्तिमार्ग भी, जो सबसे सुगम कहा जाता है, भक्तों के विलापों से भरा पड़ा है। वे शिकायत करते हैं कि हम तो पुकारते हैं किन्तु प्रियतम हमारी पकड़ से साफ़ निकल जाता है, मिलन का स्थान सुसज्जित है किन्तु अब भी कृष्ण नहीं आते! और जब संक्षिप्त झँकी का हर्ष या मिलन का गाढ़ानुराग प्राप्त होता भी है, तो उसके बाद विरह के सुदीर्घ अन्तराल आते हैं। यह सोचना ग़लत है कि योग का कोई मार्ग सुगम है, या कोई मार्ग भगवान् की ओर जाने वाला राजपथ या छोटा रास्ता है, या “सुगम फ्रेंच-शिक्षक” या “फ्रेंच स्वयं-शिक्षक” की पद्धति की भाँति “सुगम योग-शिक्षक” या “योग स्वयं-शिक्षक” की पद्धति भी हो सकती है। कुछ एक महान् आत्माएँ, जो अतीत जन्मों से तैयार हो चुकी हैं या किसी और विधि से साधारण आध्यात्मिक क्षमता के ऊपर उठी हुई हैं, अधिक शीघ्र साक्षात्कार प्राप्त कर सकती हैं; कुछ एक को प्रारम्भिक अवस्था में ही ऊँचा ले जाने वाले अनुभव प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु मार्ग चाहे कोई भी क्यों न हो, उसकी सिद्धि अधिकतर लोगों को दीर्घ, कठिन और धैर्ययुक्त दृढ़ प्रयत्न के बाद ही प्राप्त होती है। कोई भी संघर्ष के बिना आध्यात्मिक विजय के शिखर पर आरुढ़ नहीं हो सकता अथवा चढ़ाई और उसके श्रम के बिना चोटियों पर नहीं पहुँच सकता। सभी मार्गों के बारे में यह कहा जा सकता है, “दुर्गम है वह पथ, क्षुर-धारा की न्याई अति कठिन है उस पर पग धरना।”

तुम मार्ग को नीरस इसीलिए अनुभव करते हो कि तुमने अभी तक इसके परले सिरे का भी स्पर्श नहीं किया है। परन्तु सब मार्गों में अपनी-अपनी नीरस घड़ियाँ आती हैं और ये घड़ियाँ सभी के तो नहीं, पर अधिकतर लोगों के साधना-पथ में शुरू-शुरू में ही आती हैं। जिस आन्तरिक मनोवैज्ञानिक अवस्था में अनुभव के द्वार खुल सकते हैं और व्यक्ति एक दृश्य से दूसरे दृश्य पर चलता चला जा सकता है, उस तक पहुँचने के लिए तैयारी की सुदीर्घ अवस्था आवश्यक है—यद्यपि उसके बाद भी नये द्वार सामने आ खड़े हो सकते हैं और वे तब तक खुलने से इन्कार कर सकते हैं जब तक सब कुछ तैयार नहीं हो जाता। जब तक व्यक्ति में आत्म-निरीक्षण और आत्म-विजय के लिए उत्कट उत्साह न हो और वह प्रयत्न तथा संघर्ष के प्रत्येक पग को मनोरञ्जक अनुभव न करे अथवा जब तक व्यक्ति को उस विश्वास तथा आत्मदान का रहस्य प्राप्त नहीं है या प्राप्त न हो जाये, जो पथ के पग-पग पर भगवान् का हाथ देखता है और कठिनाई में भी उन्हीं की कृपा एवं उन्हीं का पथ-प्रदर्शन पाता है, तब तक

यह काल नीरस और सूना लग सकता है। (योग का इस रूप में वर्णन कि वह कठिनाई और संघर्ष के कारण “प्रारम्भ में विषतुल्य कटु” है, किन्तु उपलब्धि के हर्ष, मुक्ति की शान्ति या दिव्य आनन्द के कारण “अन्त में अमृततुल्य मधुर” है तथा साधकों और भक्तों द्वारा नीरसता की घड़ियों का बहुधा वर्णन इस बात को पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर देता है कि यह इस योग की कोई निराली विशेषता नहीं है)। सभी पुरातन अभ्यास-प्रणालियाँ यह बात स्वीकार करती थीं और इसी कारण *गीता* में कहा गया है कि योगाभ्यास धीर-स्थिर भाव से करना चाहिये—ऐसे हृदय से जो स्वयं को निराशा से आच्छन्न न होने दे। यह एक ऐसा उपदेश है जो इस मार्ग के लिए संगत है, साथ-ही-साथ *गीता* के मार्ग के लिए तथा वेदान्त के कठिन “क्षुरस्य धारा” मार्ग के लिए और अन्य प्रत्येक मार्ग के लिए भी। यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि नीचे उतरने वाला आनन्द जितना अधिक ऊँचा होगा, साधना का प्रारम्भ उतना ही अधिक कठिन होगा, रास्ते में जो मरुस्थल पार करने हैं वे उतने ही अधिक शुष्क होंगे।

निःसन्देह, अतिमानसिक अभिव्यक्ति केवल शान्ति, शुद्धि, बल, ज्ञान की शक्ति ही नहीं लाती, ये चीज़ें वास्तव में अन्तिम साक्षात्कार के लिए अनिवार्य अवस्थाएँ प्रस्तुत करती हैं, उसके अंग हैं, परन्तु उसकी परिपूर्णता के सारतत्त्व तो हैं—प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द। चाहे परम आनन्द परम कृतार्थता की स्थिति में ही प्राप्त होता है, पर वास्तव में ऐसा कोई कारण नहीं कि मार्ग में भी प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य क्यों न मिलें। कइयों ने किसी अन्य अनुभव की प्राप्ति से पूर्व प्रारम्भिक अवस्था में ही मार्ग का प्रेम, आनन्द और सौन्दर्य प्राप्त किया है। परन्तु इसका रहस्य हृदय में है, न कि मन में—उस हृदय में जो अपने अन्दर के किवाड़ खोल देता है और फिर जिसमें से स्वयं आत्मा की ज्योति विश्वास और आत्मदान की ज्वाला के रूप में बाहर झिलमिलाने लगती है। उस आन्तरिक अग्नि के सामने मन के वाद-विवाद और कठिनाइयाँ राख हो जाती हैं और मार्ग चाहे जितना भी लम्बा या दुर्गम हो, वह प्रेम और आनन्द की ओर ले जाने वाला ही नहीं, बल्कि प्रेम और आनन्द में से होकर जाने वाला ज्योतिर्मय मार्ग बन जाता है।

परन्तु, यदि आनन्द प्रारम्भ में प्राप्त न भी हो फिर भी व्यक्ति धीरतापूर्ण अध्यवसाय से उसे प्राप्त कर सकता है—निःसन्देह, अतिमानसिक मार्ग पर किसी भी प्रकार की पहुँच के लिए आन्तरात्मिक परिवर्तन अनिवार्य प्रारम्भिक अवस्था है और इस परिवर्तन का अपना असली मर्म ही है आन्तरिक प्रेम, हर्ष और भक्ति का कुसुमित होना। कई व्यक्ति पहले-पहल मानसिक उद्घाटन लाभ कर उसके फलस्वरूप प्रारम्भ में ही शान्ति, प्रकाश एवं ज्ञानोदय प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु ऊपर से होने वाला यह उद्घाटन तब तक अधूरा रहता है जब तक कि इसके बाद हृदय का अन्दर की ओर उद्घाटन नहीं हो जाता। क्योंकि तुम्हारे मन और प्राण के संघर्षों ने योग में तुम्हारा प्रथम प्रवेश नीरस बना दिया है, अतः यह मान लेना कि योग शुष्क और आनन्दरहित है, भ्रान्ति और भूल है। यदि तुम दृढ़ता से लगे रहोगे तो माधुर्य के गुप्त स्रोत स्वतः समुद्भूत होंगे, यद्यपि अब सन्देह और

अतृप्त लालसा के अजगर इन पर पहरा दे रहे हैं। असन्तोष के उद्गार तुम भले ही प्रकट करो—यदि तुम्हारी प्रकृति तुम्हें इसके लिए विवश करती है—किन्तु योग में धैर्यपूर्वक लगे रहो।
CWSA खण्ड ३१, पृ. ६२७-२९

श्रीअरविन्द

भावात्मक तथा अभावात्मक पक्ष

इस कार्य का एक भावात्मक पक्ष है, और एक अभावात्मक पक्ष।

भावात्मक पक्ष है, अपनी अभीप्सा को बढ़ाना, अपनी चेतना को विकसित करना, अपनी सत्ता को एकीकृत करना, अपने अन्दर पैठ कर अपनी चैत्य सत्ता के साथ अधिकाधिक सम्पर्क स्थापित करना; अपनी सत्ता के सभी अंगों को, सभी गतिविधियों को, सभी क्रियाओं को अपने हाथ में लेना और उन्हें चैत्य चेतना के सम्मुख रख देना ताकि वे इस केन्द्र के साथ सम्बन्ध में अपने सच्चे स्थान पर आ जायें; अन्त में अपनी समस्त अभीप्सा को भगवान् की ओर तथा समस्त प्रगति को भगवान् की ओर व्यवस्थित करना। यह है भावात्मक पक्ष।

इसके साथ-ही-साथ अभावात्मक पक्ष में आता है, विधिपूर्वक और विवेक के साथ उन सभी प्रभावों को अस्वीकार करना जो बाहर से या अवचेतना या निश्चेतना से या वातावरण से आते हैं तथा आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में रोड़ा अटकाते हैं। हमें इन प्रभावों को, इन सुझावों को, इन आवेगों को पहचानना चाहिये और इनके बार-बार आने के कारण कभी हतोत्साह न होना चाहिये तथा कभी उनकी इच्छा के अधीन न होकर, विधिपूर्वक उनको अस्वीकार करना चाहिये। इसके साथ-ही-साथ हमें अपनी सत्ता के अन्दर उन सभी विभिन्न तत्त्वों का निरीक्षण करना चाहिये जो अन्धकारपूर्ण, अहंभावपूर्ण, अचेतन, यहाँ तक कि दुर्भावनापूर्ण भी होते हैं, जो इन बुरे प्रभावों को, सचेतन या अचेतन रूप से, प्रत्युत्तर देते हैं, और जो केवल उन्हें चेतना में प्रवेश ही नहीं करने देते बल्कि कभी-कभी उन्हें वहाँ जम कर स्थापित भी होने देते हैं। यह है अभावात्मक पक्ष।

दोनों का ही अभ्यास साथ-साथ करना चाहिये। समय के अनुसार, मौक़े के अनुसार, आन्तरिक तैयारी के अनुसार, कभी तो भावात्मक पक्ष पर ज़ोर देना चाहिये और कभी अभावात्मक पर, परन्तु किसी को भी भूलना कभी नहीं चाहिये।

साधारणतया, एक ओर की गयी सारी प्रगति दूसरी ओर से विरोधी शक्तियों के आक्रमण से तिरोहित हो जाती है। अतएव, मनुष्य जितनी ही अधिक प्रगति करे उतना ही अधिक उसे सावधान रहना चाहिये। और सबसे बढ़ कर आवश्यक गुण है लगन, सहिष्णुता, और... उसे क्या नाम दें?—एक प्रकार का आन्तरिक प्रसन्न-भाव जो निरुत्साहित न होने में, उदास न होने में और मुस्कुराहट के साथ सभी कठिनाइयों का सामना करने में तुम्हारा सहायक होता है। अंग्रेज़ी में एक शब्द है जो इस भाव को अच्छी तरह व्यक्त करता है और वह है 'चियरफुलनेस'

(Cheerfulness)—प्रसन्नचित्तता। यदि तुम इसे अपने अन्दर बनाये रखो तो तुम उन सब बुरे प्रभावों के साथ, जो तुम्हें प्रगति करने से रोकने का प्रयास करते हैं, प्रकाश के अन्दर, बहुत अच्छे तरीके से लड़ सकते हो, उनका अधिक अच्छी तरह से विरोध कर सकते हो।

बस, यही है मुख्य काम। यह बहुत विशाल और जटिल है। और हमें कभी कोई चीज़ भूल नहीं जानी चाहिये।

‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड ८, पृ. २७-२८

श्रीअरविन्द के उत्तर

(८३)

आज स्वस्ति के साथ करीब आधे घण्टे तक मेरी बातचीत हुई और हमने अलग-अलग विषयों पर चर्चा की। स्वस्ति ने देखा कि मुझे बहुत-से फ्रेंच शब्द आते हैं, कभी-कभी तो उससे भी ज़्यादा (!) शायद अपनी बीमारी की वजह से वह फ्रेंच ही भूल गया! लेकिन भला कोई वह भाषा कैसे भूल सकता है जिसे वह बचपन से बोलता आया है? लेकिन इस मामले में ध्यान देने वाली बात यह है कि उससे बातें करने के बाद मेरा सिर चकराने लगा। शायद उसकी बीमारी की हलकी-सी चेप मेरे ऊपर भी लग गयी।

चाहे कोई मेरे अन्दर बीस गलतियाँ क्यों न पा ले, लेकिन कोई मुझ पर यह आरोप नहीं लगा सकता कि मैं अपने-आपको ठीक से समझा नहीं पा रहा हूँ।

निश्चित रूप से तुम अपनी बात को भली-भाँति अभिव्यक्त कर सकते हो। रही बात सिर के चकराने की, तो वह निस्सन्देह उससे आयी छूत ही थी, इससे यह पता चलता है कि चीज़ें कितनी आसानी से इधर-से-उधर आ-जा सकती हैं।

मैंने द्युमान् को आश्रम से बाहर के उसके जीवन के बारे में बहुत बार लोगों से बातें करते सुना है—वहाँ वह क्या करता था, वे लोग कैसे काम करते थे, इत्यादि। क्या ये चीज़ें उसे बहुत अधिक उसकी यादों से नहीं बाँधे रखतीं? उससे भी ज़्यादा, पुरुषोत्तम अपने महान् अतीत का राग अलापने का एक भी मौक़ा नहीं चूकता, जब कि इन दोनों का अतीत की अपेक्षा यहाँ कहीं अधिक बड़े पैमाने पर कार्य है। शायद ये सारी बातें उनके अन्दर कोई प्रतिक्रिया नहीं लातीं या उस जीवन को दोबारा जीने की कोई ललक नहीं जगातीं, इसलिए उनके लिए सचमुच हानिकर नहीं होतीं।

शायद। फिर भी, मेरे विचार से अतीत की ओर मुँह घुमा कर देखने की बजाय, भविष्य की ओर अभिमुख होना हमेशा अधिक वाञ्छनीय होता है।

११ मई १९३५

फिर से कुछ लड़कों ने यहाँ शैतानी करना शुरू कर दिया है। पिछली बार की तरह वे यहाँ देहली पर बैठने लगे हैं, लेकिन ये कुछ आगे ही बढ़ रहे हैं। पिछले क़रीब पाँच दिनों से शाम को वे खिड़की पर चढ़ कर अन्दर झाँकते हैं, चिल्लाते हैं या खिड़की के शीशों पर हाथ की थपथपाहट देते हैं, या फिर कभी-कभी दरवाज़े का हत्था घुमा कर उसे खोल देते हैं। लेकिन सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि ८ से १२ साल के बच्चे यह नारा लगाते हैं, “तुम लोगों ने यहाँ के सारे घर ख़रीद लिये हैं।” यहाँ से गुज़रते हुए भी वे इसी का शोर मचाते हैं। मेरे ख़याल से यहाँ के निवासी ज़रूर इस तरह की बातें करते होंगे।

निश्चित रूप से हाँ। ये बच्चे बड़ों की बातें पकड़ कर उन्हें अपने तरीक़े से क्रिया में ले आते हैं।

१२ मई १९३५

कुछ लोगों का कहना है कि वे दूसरों के साथ किसी भी सम्पर्क का अनुभव नहीं करते। मैंने तुलसी का ध्यान इस बात पर खींचा कि बातें करते समय गोविन्दभाई हमेशा अपनी प्राणिक इच्छा को एकदम सपाट रखने की कोशिश करता है, इसलिए उसका ज़रा-सा भी सम्पर्क हमारे अन्दर कुछ बेचैनी ले आता है, इतनी पर्याप्त बेचैनी कि हम समझ जाते हैं कि अब वह बातचीत बन्द करना चाहता है। तुलसी ने कहा कि उसे ऐसा कुछ नहीं लगा क्योंकि वह गोविन्दभाई के बारे में सब कुछ जानता है, और वह तुलसी को कभी व्याकुल नहीं कर सकता क्योंकि श्रीमाँ की सुरक्षा हमेशा बनी रहती है। मुझे यह युक्ति समझ में नहीं आती। श्रीमाँ की सुरक्षा मेरे ऊपर कम तो नहीं हो सकती; न ही यह कि मैं तुलसी की अपेक्षा गोविन्दभाई के प्रति ज़्यादा खुला हुआ हूँ। मैंने तुलसी से कहा कि या तो वह अपने चारों तरफ़ अहंकार की एक मज़बूत दीवाल खड़ी किये रहता है, या फिर वह इतना सचेतन नहीं है कि यह जान पाये कि वह क्षुब्ध है। यह तो उसी तरह हुआ जैसे प्रसन्ना कहती है कि उसे ‘प’ के वातावरण में विशेष रूप से कोई ग़लत चीज़ नहीं लगती, जब कि अधिकतर लोगों ने उसे अपनी शान्ति में हानिकर पाया है। वह इसे इस अर्थ में भी लेती है कि ‘देखो, मैं कितनी “मज़बूत” हूँ!’ तब तो सबसे मज़बूत वे हैं जिनका बाहरवालों के साथ ज़्यादा-से-ज़्यादा सम्पर्क है, जैसे नरभेराम या होटल के अतिथि, क्योंकि जब वे बाहर जाते हैं तो अपने साथ माँ की अधिक सुरक्षा ले

जाते हैं और इसीलिए वे वहाँ कोई ऐसी चीज़ नहीं पाते जो विशेष रूप से ग़लत हो! अजीब बात है!

इस हिसाब से तो चेल्लु सबसे ज़्यादा ताक़तवर होगा क्योंकि वह तो बिना कुछ अनुभव किये, सभी जगह जा सकता है—उसे तो आश्रम में रहने की भी ज़रूरत नहीं होगी। हाँ, वैसे नरभेराम और चेल्लु के बीच कोई ख़ास फ़र्क नहीं है! इस गणना से तो नरभेराम निश्चय ही सभी साधकों में महानतम साधक है और अनिलवरण सबसे कमज़ोर, क्योंकि वह तो अपने घर के अहाते से भी बाहर नहीं निकलता।

रही बात तुलसी की, तो मुझे भी लगता है कि वह अपने चारों तरफ़ एक दीवाल बना कर रखता है (अनिवार्य रूप से अहंकेन्द्रित नहीं) और उसी के अन्दर रहता है। जब कोई ऐसे करता है तो वह दूसरों के प्रभावों से विक्षुब्ध नहीं होता, लेकिन साथ ही वह उनके बारे में सचेतन भी नहीं होता। जब तुलसी कहता है कि वह जानता है तो उसका मतलब मानसिक रूप से जानने से होता है, लेकिन यह वह सीधी चेतना नहीं है जो किसी दूसरे की चेतना के साथ ठोस तरीक़े से सचेतन हो। सभी सम्पर्कों के बारे में पूरी तरह सचेतन रहते हुए भी उनसे विचलित न होना विकास की बहुत ऊँची अवस्था में पहुँचने के बाद ही सम्भव होता है।

जसवन्त क्या करने की कोशिश कर रहा है? जब मैं एक किताब पढ़ रहा था तब वह मेरे पास से यह कहते हुए गुज़रा, “फ्रेंच का क्या होगा?” उसका मतलब था, जैसा कि मैंने समझा, कि मैं बहुत ज़्यादा फ्रेंच पढ़ रहा हूँ। लेकिन मेरे ऊपर इस तरह “क्रिया” करने का भला उसका क्या मतलब? मुझे पक्का विश्वास है कि वह मेरे ऊपर किसी गुह्य शक्ति का प्रयोग करने की कोशिश कर रहा था, क्योंकि बाद में मैं घण्टे-भर से ज़्यादा तक बहुत परेशान रहा और मुझे उसके विरोध में एक प्रबल विचार की रचना करनी पड़ी, जैसे, “पहले अपने दानवाकार दम्भ के बारे में सचेतन बनो, तब तुम्हें पता चलेगा।” ध्यान के बाद फिर से वह मेरे पास से यह कहते हुए गुज़रा, “कोई बात नहीं।” “करना क्या चाहता है वह और मेरे पीछे क्यों पड़ा है?” अगर वह इसी तरह मुझ पर आक्षेप करने पर तुला रहा तो मुझे भी अधिक भौतिक साधनों का उपयोग करना ही पड़ेगा।

मेरे विचार से वह बस इतरा रहा है। सबसे अच्छा होगा कि तुम उसके प्रति एकदम उदासीन बने रहो और उस पर कोई ध्यान न दो। इस विषय में उसके शब्दों में ज़रा भी सच्चा अभिप्राय या अर्थ है क्या? और फिर उसके अन्दर कौन-सी गुह्य शक्ति है भला?

१३ मई १९३५

तुलसी अहंकार के अलावा और कौन-सी दीवाल खड़ी कर सकता है भला? सामान्यतः वह अपने-आपसे कहता है, “कुछ भी मुझे क्षुब्ध नहीं कर सकता”, “किसी के भी अन्दर मुझे विक्षुब्ध करने की शक्ति नहीं है”, या “किसी के भी अन्दर मुझसे ज़्यादा शक्ति नहीं है कि वह मुझे तंग कर सके।” इसे ही मैं “अहंकारमयी” दीवाल कहता हूँ। अगर वह “चैत्य” होती तो वह माँ के सुरक्षा-क्षेत्र के बाहर कभी नहीं जाता, बस तभी जाता जब कार्य के लिए ज़रूरी होता। मैं समझ सकता हूँ कि चन्द्रलाल कार्य के सिलसिले में एक ऐसे यूरोशियन से भी हाथ मिला कर एकदम से शान्त बना रह सकता है जो उसका घोर विरोधी हो। लेकिन, जहाँ तक तुलसी की बात है, उसके अहंकार के सिवाय मैं और कोई कारण नहीं देख पाता कि वह गोविन्दभाई या पुरुषोत्तम के साथ घण्टों बतियाने के बाद भी परेशान कैसे नहीं होता? वरना, कम-से-कम उसे कुछ तो अनुभव होता ही और वह यहाँ से चला जाता। या फिर इसका यह मतलब है कि मैं उनके साथ मिनट-दो मिनट से ज़्यादा इसलिए बातचीत नहीं कर सकता क्योंकि मैं बहुत ही कमज़ोर और सँकरे दिमागवाला हूँ?

यह स्वभाव की बात होती है। कुछ लोग, उनके पास जो कुछ आये उसके प्रति चैत्य तथा प्राणिक रूप से सचेतन और प्रत्युत्तरशील होते हैं। यह बल या कमज़ोरी का प्रश्न बिलकुल नहीं है। पहले स्वभाव के लोगों के अन्दर जीवन के बारे में एक अधिक महान् भाव और उत्तर होता है, इसलिए जीवन उन्हें अधिक दुःख देता है, लेकिन साथ ही अधिक प्रदान भी करता है। यह ग्रीक और रोमन के बीच के अन्तर-जैसा है। अहंकार के बिना भी दोनों में अन्तर बना रहता है क्योंकि उनका स्वभाव ही ऐसा होता है। योग में, पहली तरह के लोग—यानी चैत्य-प्रमुख व्यक्ति—सभी चीज़ों को सीधे, प्रत्यक्षतः अनुभव कर सकते और निकट अनुभूति द्वारा सब कुछ ब्योरे में जान लेते हैं—इससे वे बहुत लाभान्वित होते हैं। दूसरों को जानने-समझने के लिए मन का उपयोग करना पड़ता है और उनकी पकड़ कम घनिष्ठ होती है।

१४ मई १९३५

शान्ति ने मुझसे पूछा कि क्या मैं शान्ता को फ्रेंच सिखाना चाहूँगा। मैंने कहा कि यह असम्भव है। एक बार मैंने यूँ ही शान्ता से पूछा था कि वह फ्रेंच क्यों नहीं सीख रही जब कि कई दूसरे सीख रहे हैं, इसलिए उसने यह सुझाव पकड़ लिया होगा। ऐसा लगता है कि श्रीमाँ नहीं चाहती थीं कि वह फ्रेंच सीखे, लेकिन बाद में बार-बार की उसकी माँग के बाद माँ ने उसे बेंजामिन के पास जाने का सुझाव दिया। लेकिन जो लोग बेंजामिन के पास जाते हैं वे उसके साथ-साथ चलने में कठिनाई का अनुभव करते हैं क्योंकि, १—वह एक साथ कई सारी चीज़ें दे देता है; २—वह शुरू

से ही बहुत भारी-भरकम चीज़ें देता है, जैसे, ब्योरे में व्याकरण करवाता है, जैसा कि फ्रेंच की व्याकरण की किताबों में होता है, ३—वह हफ़्ते में बस दो कक्षाएँ ही लेता है, इसलिए कक्षाओं के बीच का अन्तराल बहुत लम्बा होता है। मनुभाई भी उसकी कक्षा छोड़ने-छोड़ने को था, और सावित्री तथा मूलशंकर ने भी तो कक्षा छोड़ ही दी है। अगर वह ज़्यादा सरल तरीका अपनाता तो लोगों के लिए समझना आसान हो जाता, और एक-एक घण्टे की दो कक्षाएँ लेने की बजाय अगर वह आधे-आधे घण्टे की चार कक्षाएँ लेता तो कहीं ज़्यादा अच्छा होता। लेकिन ऐसा तो वह करेगा नहीं। मेरे ख़याल से सिखाते समय व्यक्ति को लोगों और उनकी क्षमता के अनुसार अपने तरीके में रद्दोबदल करनी ही चाहिये।

इस मामले में मैंने बेंजामिन का कभी कोई उल्लेख नहीं किया, कम-से-कम हाल की इस ऐतिहासिक अवधि में! बहरहाल, वे शान्ति से ही बात कर रही हैं कि वही उसको सिखा सकता है। मेरे ख़याल से यह बात सच है कि बेंजामिन बहुत सख़्त है और अपने तरीकों में बहुत रूढ़िगत।

मेरे पेट में दर्द-सा हो रहा है—मानों मैं प्रसव-पीड़ा से गुज़र रहा होऊँ! मेरे ख़याल से रीढ़ की हड्डी की नसों में जो शान्ति उतरती है यह वही है—वे “शान्ति से तन गयी हैं”! या फिर आँतें “शान्ति से पत्थर बन गयी हैं”? क्योंकि मुझे तो याद नहीं कि मैंने अरंडी के तेल का बीज खाया हो... या शरत् की तरह कच्चे आम का पना पिया हो। हाँ, “लोगों की सत्ता को समझने के लिए” कहीं यह जसवन्त की मुझ पर “एकाग्रचित्तता” हो तो बात दूसरी है, इसे तो मुझे उतरती हुई शान्ति में विलीन कर देना होगा।

मैं शान्ति पर कोई दोषारोपण करना नहीं चाहता—मैंने कभी इसका यह प्रभाव नहीं देखा। मैं आशा करता हूँ कि तुम औरों के पेटदर्द अपने ऊपर नहीं लेते; लेते हो क्या?

अपने काम के लिए मुझे लोहे के कुछ तार मुड़वाने के लिए भट्टी में डलवाने थे। मैं पवित्र के कारख़ाने में गया—वह वहाँ नहीं था। मैंने वहाँ के मज़दूर से यह काम करने को कहा क्योंकि मैंने देखा कि भट्टी जल रही थी। मज़दूर फ़ौरन राज़ी हो गया। बाहर निकल कर मैं चन्दूलाल से मिला, उसने मुझसे वहाँ आने का कारण पूछा तो मैंने बतला दिया कि कुछ तार गरम करवाने आया था। चन्दूलाल ने कहा, “पवित्र से कहा तुमने?” मैंने कहा, “वह वहाँ नहीं है और मज़दूर मेरा काम कर रहा है।” तब उसकी भौहें चढ़ गयीं, आँखें फैल गयीं, वह बोला, “पवित्र को तो

बतलाना चाहिये था।” वास्तव में काम तो हो चुका था। लेकिन क्या यह चोरी थी? क्या मैंने मज़दूर को घूस दी? क्या यह मेरा निजी काम था? मैंने जाकर पवित्र को बतला दिया, उसने कहा, “ठीक है।” फिर मैंने आकर चन्दूलाल से कहा, “तुमने बेकार में मुझे डरा दिया!” वह बोला, “यह अनुशासन की बात है।” अगर यह अनुशासन का प्रश्न होता तो पवित्र की अनुपस्थिति में मज़दूर ने यह काम किया ही कैसे? इसका तो यह मतलब हुआ कि किसी छड़ को गरम करना या किसी तार को काटना जैसी छोटी-छोटी चीज़ों के लिए उसके हाथ की लिखी ‘चिट’ की ज़रूरत नहीं है। वरना खुद मज़दूर मुझसे ‘चिट’ माँगता और मैं तुरन्त उसे लाकर दे देता। लेकिन चन्दूलाल मुझसे कौन-सा अनुशासन पालने को कह रहा है? क्या मैं यहाँ केवल अनुशासन सीखने के लिए आया हूँ और वह भी जब मैं इतने सालों से इतना काम कर चुका हूँ? क्या यह अनुशासन-पालन का बहुत बड़ा मुद्दा था—कुछ तारों को भट्टी में डलवाना, और वह भी तब जब मज़दूर पवित्र की ‘चिट’ माँगे बिना, काम करने को फ़ौरन राज़ी हो गया। तो अब आप चन्दूलाल से कह दीजिये कि अगर वह मेरे साथ ढंग से काम करना चाहता है तो मुझे सलाह देना बन्द करे, भौहें चढ़ाना, अनुशासन सिखाना रोके। वरना मैं उसका साथ छोड़ता हूँ!

लेकिन भला तुम तार की तरह गरम क्यों हो रहे हो? चन्दूलाल ने अपनी राय भौहें चढ़ा कर जता दी—यानी, उसने सिद्धान्त के रूप में इस नियम को पालन करने की कड़ी हिदायत जता दी—जैसा कि हम सभी अपनी राय जतलाते हैं। लेकिन इसे इतना तूल देने की भला क्या ज़रूरत जब तुम्हारी जीत हो गयी और तुम्हें तुम्हारे तार भी मिल गये? शायद चन्दूलाल ने यह इसलिए कहा क्योंकि वह जानता है कि पवित्र यह पसन्द नहीं करता कि मज़दूर काम सीधा ले लें और एक बार जब स्वयं चन्दूलाल ने ऐसा किया था तो उसे पवित्र से बुरी फटकार मिली थी।

मुझे याद नहीं पड़ता कि किसी बीमार के साथ मैंने काफ़ी समय बिताया हो। अगर मैंने किसी से बातें भी कीं तो बस कुछ मिनटों के लिए, और यह चीज़ मुझे इतनी देर तक पेटदर्द नहीं देगी। बहरहाल, अभी-अभी सवेरे, मैंने शान्ति के साथ दो-तीन मिनट बातचीत की और उसके बाद मेरा सिर भारी हो गया, दर्द करने लगा और वह कुछ मिनटों तक रहा। लेकिन कल के पेटदर्द की वजह क्या थी, पता नहीं। और फिर, शान्ति के साथ मिनट-दो मिनट की बातचीत भला मुझे सिरदर्द क्यों देगी, जब तक कि स्वयं उसे सिरदर्द न हो रहा हो या उसके सिर में बेचैनी न भरी हो?

यह बिलकुल सम्भव है अगर शान्ति की बातचीत में या उसके मन में कोई भारी चीज़ हो या उसमें अन्धकार भरा हो और अगर उस चीज़ ने तुम्हारे भौतिक मन पर दबाव डाला हो। ऐसा

हुआ या नहीं, इसके बारे में प्रश्नचिह्न है, लेकिन यह पूरी तरह से सम्भव है।

१५ मई १९३५

मैंने भवन-निर्माण के विभाग में काम करना बन्द कर दिया है। अगर कहीं और कुछ काम हो, जो मेरे अनुकूल हो और जहाँ मेरा झूठे अनुशासनों के साथ वास्ता न हो, तो ऐसा काम मैं ले सकता हूँ। वरना, मैंने आज शाम को चले जाने का निश्चय कर लिया है।

ज़्यादा अच्छा है कि ऐसे आवेश के साथ, इस तरह की नाराज़गी के बल पर या किसी व्यक्तिगत भाव को ठेस पहुँचने के कारण ऐसे निश्चय नहीं लिये जायें। अपने मन और प्राण को अचञ्चल होने और शान्ति को उतरने दो!

१६ मई १९३५

मुझे क्या करना चाहिये इसका उत्तर आपने नहीं दिया। क्या मैं कुछ महीनों के लिए काम से छुट्टी ले लूँ, जैसा कि मैं चाहता था? अपने निश्चय के अनुसार मैं बाहर के लिए निकल गया, लेकिन मुझे बाहर जाना प्रायः असम्भव लगा। न ही अपने जीवन को समाप्त करने के लिए मेरे पास हाइड्रोसायनिक एसिड ही है। आप अब मुझसे यह प्रत्याशा तो नहीं रखते कि मैं फिर से चन्दूलाल के साथ काम करूँ क्योंकि मैंने उसकी सारी किताबें और बाक़ी सभी चीज़ें वापस कर दी हैं।

तुम्हारे लिए चन्दूलाल के साथ काम करना बिलकुल आवश्यक नहीं है। ख़ास तौर पर जब यह चीज़ तुम्हारे अन्दर इतनी उग्र प्रतिक्रियाएँ ले आती है। श्रीमाँ के अनुसार यह एकदम से अवाञ्छनीय है।

लेकिन, उनकी समझ में नहीं आ रहा कि फ़िलहाल तुम्हें क्या काम दिया जाये। क्योंकि सभी कार्य किसी संस्था, किसी विशेष आकार, निश्चित व्यवस्था, नियम, अनुशासन इत्यादि के तहत किये जाते हैं, और ऐसा लगता है कि इस तरह की चीज़ें तुम्हारे अन्दर घोर विद्रोह जगाती हैं।

इसलिए, शायद अभी के लिए बेहतर होगा कि तुम कार्य से निवृत्ति ले लो, जैसा कि तुम्हारा अपना सुझाव है और अपनी आन्तरिक साधना पर ध्यान दो, पढ़ो, लिखो, अध्ययन करो—यानी, अपनी मरज़ी-मुताबिक चीज़ें करो, ताकि बीच-बीच में तुम्हारे अन्दर 'यह करना है, वह नहीं करना' इत्यादि जो तरंगें उठती हैं उनसे छुटकारा पा सको।

क्या आपको यह भी लगता है कि जब मैंने चन्दूलाल के सामने धमकाने वाला संकेत

किया तब मैं उस पर हाथ भी उठा सकता था? मैं बस ज़रा तन कर, कठोरता के साथ तार के बारे में उससे कहना चाहता था और यह भी कि कैसे पवित्र की 'चिट' के बिना मज़दूर ने तुरन्त मेरा काम कर दिया। मैं यह सब इसलिए कहना चाहता था क्योंकि आपने उससे कुछ नहीं कहा, या फिर अगर आपने कहा भी तो आप मुझे इस बारे में कुछ नहीं बताना चाहते थे। दूसरी बात यह कि मैं जानना चाहता था कि अगले दिन के लिए मेरे पास कौन सा काम था, क्योंकि मैंने देखा कि मेरे लिए दूसरा कोई भी काम करना सम्भव नहीं था। तीसरी यह कि मैं उससे उन दो गोलियों के चुटकुले की बात करना चाहता था जिनमें से एक विषैली थी और यह कि हम दोनों को एक-एक गोली खानी थी ताकि हममें से एक को यह धरती छोड़नी पड़े। लेकिन उसे पीटने का मेरा कोई इरादा नहीं था, क्योंकि मेरे लिए उसे या किसी को भी इस तरह कष्ट पहुँचाना सम्भव नहीं है। लेकिन उसे भाग कर आपके पास आने की क्या ज़रूरत थी? वह बस मेरा हाथ पकड़ सकता था, ज़रा हँस देता और सारी चीज़ रफ़ा-दफ़ा हो जाती। इसका तो यही मतलब हुआ कि तीन सालों के बाद भी न वह (यह तो स्वाभाविक है) और न ही आप मुझे समझ पाये। इसके अलावा, मेरी तरफ़ से, मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि मेरे प्रति चन्दूलाल के मन में विद्वेष भरा है; भरा हो, फिर भी अगर वह उसे बहुधा अभिव्यक्त नहीं करता तो मुझे इससे कोई परेशानी न होती। और चूँकि कल चन्दूलाल का जन्मदिन है और मैं इस बारे में सारे समय बहुत सचेतन था इसलिए मेरे लिए यह कतई सम्भव नहीं था कि मैं उसका दिन बिगाड़ूँ। आप मुझे कम-से-कम इतना श्रेय तो दे ही सकते हैं। मुझे बस इस बात का दुःख है कि आप मुझे समझ नहीं पाये!

तुम्हारी ये सारी बातें तुम्हारे उस अस्वाभाविक और उच्छृंखल आवेश के सामने नहीं टिक सकतीं जिसकी पकड़ में आकर तुमने उससे अजीबोगरीब बातें कीं, संकेत किये—चन्दूलाल को डराने के लिए इतना काफ़ी था। तुम्हें ऐसे आवेश के शिकंजे में जकड़े हुए देख कर क्या चन्दूलाल तुम पर विश्वास कर सकता था? निस्सन्देह, तुम्हारे प्रति उसके अन्दर कभी कोई दुर्भावना नहीं थी, लेकिन तुम्हारी तरफ़ से जो हुआ—तुम्हारा वह तमतमाता हुआ चेहरा, वह धमकी-भरा संकेत—इस सबसे भला उसे तुम पर कैसे विश्वास होता? माँ ने इस बात पर कभी विश्वास नहीं किया कि तुम्हारा इरादा चन्दूलाल पर प्रहार करने का था।

१७ मई १९३५

सुभद्रा चाहती थी कि मैं उसकी फ्रेंच की कक्षाएँ लेना फिर से शुरू करूँ। मैंने उससे पूछा कि क्या शैलेन उसे नहीं पढ़ा रहा? उसने कहा कि वह उसे केवल प्रार्थनाएँ सिखा रहा है, न अनुवाद, न वाक्य-रचना ही करवा रहा है। तब मैंने

कहा कि भला मैं कैसे करवा सकता हूँ जब माँ ने शैलेन के साथ व्यवस्था की, मेरे साथ तो नहीं। तब मैंने सुझाव दिया कि शान्ति उसे करवा सकता है। लेकिन लगता है कि शान्ति उसे नापसन्द है। इसका यह मतलब हुआ कि किसी तरह वह मेरा सम्पर्क चाहती है, या फिर उसे मुझसे प्रेम है! लेकिन अब मैं प्रेम के लिए बहुत बूढ़ा और लालची हो गया हूँ, और इसके अतिरिक्त, प्रेम करने या प्रेम पाने के लिए बहुत भयभीत भी—मेरे अन्दर भेड़िये और बाघ के मिले-जुले गुण हैं। बहरहाल, क्या उसकी कक्षाएँ फिर से लेना हानिकर होगा?

मैं इसका वचन नहीं दे सकता—मेरे खयाल से वह ऐसी अवस्था में नहीं है कि हानिकर न हो। मेरे खयाल से वह शैलेन से निराश हो गयी है—उसकी फ्रेंच-कक्षा से नहीं, इसलिए वह किसी ऐसे को ढूँढ़ रही है जो ज़्यादा स्नेहशील हो।

जो भी हो, आप चीज़ों को अन्दर से नहीं, बस बाहरी लक्षणों से देखने पर अड़ गये हैं—आपके लिए बस कोई बाहरी उत्तेजना या संकेत ही अब काफ़ी है। वास्तव में, यह वही समान नायक था जब मैं भयभीत दिखने की कोशिश कर रहा था। मैं कोशिश कर रहा था कि डरावना दिखूँ। हाँ, लेकिन जब आप उस प्रकाश में चीज़ें देखना नहीं चाहते और उचित न्याय नहीं करना चाहते... तो... हाँ, सभी सरकारें समान होती हैं, चाहे वे भागवत हों, अतिमानसिक हों या मानव! मानव सज़ा देने के लिए शरीर को सूली पर चढ़ा देता है, अतिमानस वही समान चीज़ सूक्ष्मतम तरीके से करता है! बस सारा मामला यहीं ख़तम हो जाता है।

निस्सन्देह, अन्दर से यह वही समान नायक था, लेकिन यह तथ्य इस बात की पुष्टि कैसे करता है कि उस नायक का वह बाहरी आवेश पूरी तरह से वाञ्छनीय था या उसका ख़तरनाक दीखने की कोशिश करना उचित था? मुझे तो पता नहीं कि हमने कौन-सा अन्याय किया या हमने तुमको भला कौन-सी सज़ा दी!

१८ मई १९३५

हमेशा यह क्यों होता है कि जब मैं यहाँ से चला जाना चाहता हूँ, कभी जा नहीं पाता? क्या चीज़ें बदल नहीं सकतीं कि मैं बाहर जाकर बस जाऊँ, जैसा कि कुछ लोगों ने किया है? मेरे अन्दर कोई महत्वाकांक्षा या क्षमता नहीं है। मैं वहाँ जाकर साधारण लोगों की तरह रह सकता हूँ। यह युक्ति कि हमारे लिए वहाँ कोई स्थान नहीं है, और वहाँ के लोग हमारा स्वागत करने को प्रस्तुत न होंगे, ठीक युक्ति नहीं है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरे रिश्तेदार और मित्रगण मुझे वापस आया देख कर

बहुत ही प्रसन्न हो जायेंगे। एक दृष्टिकोण से, अगर सम्भव हो तो मैं वहाँ जाकर उनके लिए भी कोई काम करना चाहूँगा। लेकिन कोई चीज़ है जो मेरे वहाँ जाने में रुकावट डालती है, अगर वह टूट जाये तो मेरे खयाल से मैं वहाँ जाकर रह लूँगा, जैसा कि सभी करते हैं। निस्सन्देह, जैसा कि द्युमान् ने कहा कि मेरा चैत्य विकसित हो गया है, लेकिन मुझे विश्वास नहीं होता कि वह इतना विकसित हो चुका है कि मैं साधारण जीवन और इस जीवन के बीच खाई को अनुभव न करूँ। ऐसा लगता है कि प्राण सामान्य जीवन से घृणा करता है।

यहाँ से चले जाने की अक्षमता शायद चैत्य से आती है जो, जब बात उठती है तो वह और भागों को इसका समर्थन करने की अनुमति नहीं देता, या यह अक्षमता प्राण से भी आ सकती है जिसके अन्दर अब सामान्य जीवन जीने के लिए कोई आकर्षण नहीं रहा और वह जानता है कि वह इससे कभी सन्तुष्ट नहीं होगा। जो अब भी बाहर जाने की बार-बार माँग करता है वह शायद भौतिक प्राण हो जिसके अन्दर की पुरानी प्रवृत्तियाँ अभी तक सक्रिय हैं।

चम्पा को इच्छा की एक चिट्ठी मिली जिसमें उसने यह पूछा कि मैंने उसकी चिट्ठी का जवाब क्यों नहीं दिया और क्या माँ ने मुझे जवाब देने की मनाही की है। मैंने वह चिट्ठी पढ़ी, लेकिन मेरी समझ में कुछ भी नहीं आया। ऐसा लगता है कि उसे वहाँ रहने में कोई परेशानी नहीं हो रही, न ही वह वहाँ वापस आने के लिए कोई प्रबल प्रयास ही कर रही है। मेरी समझ में नहीं आता कि उसे क्या लिखूँ, और यह भी कि उसको लिखना क्या किसी भी तरह लाभकारी होगा, या फिर उससे उलटा ही प्रभाव पड़ेगा।

इच्छा का परिवार उसे यहाँ आने की अनुमति देने से इन्कार कर रहा है क्योंकि यह परधर्म है, उनका कहना है कि अगर वह शादी करके सामान्य जीवन जीना नहीं चाहती तो उसे अपने-आपको योग्य बना कर जैन साध्वी बन जाना चाहिये। ऐसा लगता है कि साध्वी बनने की एक प्रक्रिया होती है जो मेरी समझ में बहुत नहीं आती, क्योंकि स्वयं इच्छा भ्रम में पड़ी हुई है। उसने यह सुझाव दिया कि वह अपने परिवारवालों को चकमा देगी, वह साध्वी बन जायेगी और जैसे ही घर से मुक्त हो जायेगी, यहाँ चली आयेगी। हमारे निर्देश के अनुसार द्युमान् ने उसे लिख भेजा है कि ऐसा वह बिलकुल न करे। उसका दूसरा सुझाव है कि बस यहाँ चली आये, लेकिन अगर वह ऐसा करेगी तो वे यहाँ आकर उसे ले जा सकते हैं, क्योंकि अभी तक वह नाबालिग है। फ़िलहाल वह अपने जीवन के बड़े ही बेढब दौराहे पर खड़ी है।